प्रास्ताविक कथन

सामाजिक-जीवन की गाड़ी को ठीक रूप से चलाने के लिये दो मार्ग हैं—आगार धर्म और अणगार धर्म—गृहस्थ धर्म और साधु धर्म—राजनीति और धर्म-नीति।

जिस समय मनुष्य का सामाजिक रूप नहीं होता (युगल-समय होता है) तो उस समय न राजनीति होती है और न ही धर्मनीति। जब समाज में दोष बढ़ते हैं तो फिर सामाजिक-रूप होना प्रारम्भ हो जाता है। वर्ग की स्थापना होती है और उस का मुखिया 'कुलकर' कहलाता है। वह मुखिया दोषी को 'हकार' की दण्डनीति पर चलाता है। आगे जाकर और दोष बढ़ते हैं तो 'मकार' की दण्डनीति प्रवृत्त होती है, इस प्रकार दोषों के बढ़ते हुए क्रम से 'धिक्कार' नीति, 'परिभाष' नीति, 'मण्डल-बन्ध'=नज़र-बन्दी 'चारए'=क़ैद और 'छविछेद'=अंगच्छेद की नीतिएं प्रवृत्त होती हैं।* ये राजनीति की नीतिएं हैं।

राजनीति स्थापित होने पर धर्मनीति स्थापित होती है। यह भी एक सामाजिक रूप है परन्तु अणगार-धर्म पर चलने वाले साधकों का। इस सामाजिक संगठन की दस नीतिएं होती हैं। ये नीतिएं, दण्डनीतिएं नहीं, अपितु प्रायश्चित्त-नीतिएं हैं। दंड, बलात् लिया जाता है और प्रायश्चित्त, सहर्ष—स्वयं की इच्छापूर्वक समझ कर ग्रहण किया जाता है, साधु-पुरुषों की नीतिएं जो हुई, यहां बलात्—दबाव देकर काम करवाने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, हां! यदि वह दोषी, दोष को

---

* सत्तविहा दंडनीई पण्णत्ता तं जहा—हक्कारे १, मक्कारे २, धिक्कारे ३, परिभासे ४, मंडलबंधे ५, चारए ६, छविच्छेदे ७॥ —ठाणांग सूत्र ७।५२॥

[illegible]
[illegible] (Non
Co-operation) [illegible]

प्रायश्चित्त नीति में सर्वप्रथम आलोचना होती है अर्थात् अपने किये हुए पापों को प्रकट करना और उन में लगे हुए दोषों को स्वीकार करना, इसके पश्चात् लगे दोषों को मिथ्या कहना (मिथ्यादुष्कृत देना), तदनन्तर उन्हें बुरा समझना (निन्दा) और उनसे घृणा करनी (गर्हा), तब उस पापकर्म से निवृत्त होना (नि-उट्टन), उसमें रहे अतिचारों की विशुद्धि करना (विशोधन), तथा आगे के लिये उस पाप-कर्म को न करने का अपने मन में दृढ-सङ्कल्प धारण करना और किये हुए पाप-कर्म का श्रद्धापूर्वक श्रुतानुसार यथार्थ प्रायश्चित्त ग्रहण करके उसे शीघ्रतया पूरा करना होता है।*

यदि इस प्रकार विधि से प्रायश्चित्त किया गया है तब तो वह प्रायश्चित्त है, नहीं तो वह प्रायश्चित्त न होकर दण्ड ही कहलाएगा, जो कि देने अथवा लेने वाले साधु-जनों को, अणगारों को समुचित नहीं। यदि ऐसा किया ही जाता है तो यह धर्म-नीति नहीं, यह तो अणगार-धर्म से गिरावट की राजनीति बन गई क्योंकि दण्ड तो राजनीति में होता है धर्म-नीति में नहीं। धर्म-नीति में तो उपरोक्त विधि से प्रायश्चित्त होता है जोकि उसकी आत्मा को विशुद्ध बनाता है॥

---

* भिक्खू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं सेवित्ता, इच्छेज्जा आलोएत्तए जत्थेव अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा, तस्संतियं आलोएज्जा, पडिक्कमेज्जा, निंदेज्जा, गरहेज्जा, विउट्टेज्जा, विसोहेज्जा, अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा, अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा॥ —व्यवहार सूत्र १।२४॥

—ठाणांग सूत्र ३।३।१॥, —बृहत्कल्प सूत्र ४।२५॥

विषय-सूची

संवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो, तवो पहो तासिं ।
तवसो य पहाणंगं पच्छित्तं, जं च नाणस्स ॥
सारो चरणं, तस्स वि नेव्वाणं, चरण-सोहणत्थं च ।
पच्छित्तं, तेण तयं नेयं मोक्खत्थिणाऽवस्सं ॥

से लेना होता है। किन्तु अतिपरिणामक के जो दप्पिय[1] दोष हैं उनका प्रायश्चित्त तो बहुत अधिक है और अपरिणामक को भी अधिक प्रायश्चित्त लेना होता है।

एक ही प्रकार के दोष-सेवन के पीछे भिन्न-भिन्न भावना के आधार पर उनका प्रायश्चित्त भी भिन्न-भिन्न होता है जैसे कि शरीर की धोआ-धाई की एक ही क्रिया है, परन्तु इस के पीछे भिन्न-भिन्न भावना होने पर अलग-अलग प्रायश्चित्त हैं। निशीथ सूत्र के तीसरे उद्देश्य में और चौथे उद्देश्य में इसके लिए लघु-मास का प्रायश्चित्त है, पन्दरहवें उद्देश्य के सूत्र १७वें और १०४ में लघु-चौमासी और छट्ठे एवं सातवें उद्देश्य में गुरुचौमासी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।[2]

---

१. दर्प पूर्वक कार्य करने के जो दोष हैं।

२. निशीथ सूत्र ३।२०—

जे भिक्खू अप्पणो पाए सीओदग-वियडेण वा उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोअंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।

निशीथ सूत्र ४।५—

जे भिक्खू अन्नमन्नस्स पाए सीओदग-वियडेण वा उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोअंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।

निशीथ सूत्र १५।१७—

जे भिक्खू अन्नउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा अप्पणो पाए सीओदग-वियडेण वा उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोअंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मा-

निशीथ सूत्र [illegible]—

जे भिक्खू विभूसा-पडियाए अप्पणो पाए सीओदग-वियडेण वा उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोअंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ।

निशीथ सूत्र ६ । २८—

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुण-पडियाए अप्पणो पाए सीओदग-वियडेण वा उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोअंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

निशीथ सूत्र ७ । १८—

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुण-पडियाए अन्नमन्नस्स पाए सीओदग-वियडेण वा, उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोअंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

(६) सावधानी रखते हुए भी उस कृतयोगी को, अपवाद सेवन करने के पीछे क्या भावना काम करती है ?

इन बातों का विचार कर लेने पर तब कहीं जा कर प्रायश्चित्त का निर्णय हो पाता है।*

अब सामान्य रूप से किस-किस दोष का क्या-क्या प्रायश्चित्त होता है इस प्रकार दस प्रायश्चित्तों का वर्णन क्रमशः किया जाता है—

पायच्छित्ते दसविहे पण्णत्ते तं जहा—(१) आलोयणारिहे, (२) पडिक्कमणारिहे, (३) तदुभयारिहे, (४) विवेगारिहे, (५) विउसग्गारिहे, (६) तवारिहे, (७) छेयारिहे, (८) मूलारिहे, (९) अणवट्ठप्पारिहे, (१०) पारंचियारिहे ॥

—भगवती सूत्र २५।७।९॥

१. आलोचना—

करणिज्जा जे जोगा, तेसु उवउत्तस्स निरइयारस्स ।
छउमत्थस्स विसोही, जइणो आलोयणा भणिया ॥
(जीतकल्प सूत्र)

---

* गुणमाईया पुरिसा गुरुलहुयाई वि होंति नायव्वं ।
परिणामगाइया(३) वा इड्ढिमनिक्खंत(२) अहट्ठ(२) वा ॥
पुरो(३) थाम(३) थिरा(२) चेव कयजोग्गा(२) य सेवता ।
इच्चा समासतो पुरिसा होंति दारुण(१) भद्दगा(२) ॥
—व्यवहार सूत्र उद्देश १० भाष्यगाथा १६७,१६८ ।

जो साधु अपने गण [illegible] का त्याग कर अन्य [illegible] स्वीकार करके फिर से अपने [illegible] में आना चाहे, तो उसे कोई दीक्षा-छेद व पारिहारिक तप का प्रायश्चित्त नहीं आता केवल एकमात्र उसे आलोचना करनी होती है। [क्योंकि उसने अपने संयम में कोई दोष नहीं लगने दिया है।]

(२) निग्गंथं च णं राओ वा वियाले वा दीहपिट्ठो लूसेज्जा; इत्थी वा पुरिसस्स ओमज्जेज्जा, पुरिसो वा इत्थीए ओमज्जेज्जा, एवं से कप्पइ, एवं से चिट्ठइ, परिहारं च से णो पाउणइ—एस कप्पे थेर-कप्पियाणं; एवं से नो कप्पइ, एवं से नो चिट्ठइ, परिहारं च णो पाउणइ—एस कप्पे जिण-कप्पियाणं।

—व्यवहार सूत्र ५।२१॥

साधु को रात्रि व सायं के समय किसी विष-धर सर्प ने काट खाया हो, उस समय उपचार जानने वाले किसी पुरुष का योग न मिले और स्त्री का मिलता हो, तो स्त्री के पास से उपचार करा लेवे; इसी प्रकार साध्वी को काटा जाने पर उसे उपचार जानने वाली स्त्री का योग न मिले और पुरुष का मिलता हो, तो वह साध्वी उस पुरुष से उपचार करा लेवे,

प्रकार करना उन्हें कल्पता है और इस प्रकार किया जाता उन्हें किसी प्रकार का पारिहारिक तप प्रायश्चित्त नहीं ता—यह स्थविर-कल्पियों की मर्यादा है। परन्तु जिन-कल्पी ाधु को ऐसा करना नहीं कल्पता है और न वे ऐसा करते हैं, । करने पर उन्हें कोई पारिहारिक प्रायश्चित्त नहीं आता। (कल्प्य-प्रायश्चित्त, केवल आलोचना करनी होती है)

(३) भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारित्तए, नो से कप्पइ थेरे अणा-पुच्छित्ता गणं धारित्तए, कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता गणं धारित्तए। थेरा य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ गणं धारित्तए; थेरा य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ गणं धारित्तए। जण्णं थेरेहिं अविइण्णं गणं धारेइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा। जे ते साहम्मिया उट्ठाए विहरंति, नत्थि णं तेसिं केई छेए वा परिहारे वा।

—व्यवहार सूत्र ३।२॥

किसी साधक के मन में कुछ साधुओं को साथ लेकर विचरने की इच्छा हुई, तो उसे स्थविर भगवान् से बिना पूछे ऐसा करना नहीं कल्पता, उनसे पूछ कर करना कल्पता है। स्थविर भगवान् आज्ञा दे देवें तो साधुओं को साथ लेकर विचरण कर सकता है, यदि वे आज्ञा न देवें तो ऐसा करना नहीं कल्पता। जो साधक स्थविर भगवान् की आज्ञा बिना साधुओं को साथ लेकर जितने दिन विचरे, उतने ही दिन का उसे दीक्षा-छेद व पारिहारिक तप का प्रायश्चित्त आता है। परन्तु जो साधु उसके साथ विचरे हैं उन्हें कोई छेद व तप प्रायश्चित्त नहीं आता। (केवल आलोचना करनी होती है)

२. प्रतिक्रमण—

छव्विहे पडिक्कमणे पण्णत्ते तं जहा—उच्चार-पडिक्कमणे,

३. तदुभय—

संभम-भयाउरावइ-सहसाऽणाभोगऽणप्पवसओ वा।
सव्ववयाईयारे तदुभयमासंकिए चेव ॥
दुच्चिन्तिय-दुब्भासिय-दुच्चेट्ठिय एवमाइयं बहुसो।
उवउत्तो वि न जाणइ जं देवसियाइ-अइयारं ॥
सव्वेसु वि बीय-पए दंसण-नाण-चरणावराहेसु।
आउत्तस्स तदुभयं सहसक्काराइणा चेव ॥

इस तीसरे प्रायश्चित्त में, दोषों की आलोचना भी की जाती है और मिथ्यादुष्कृत भी दिया जाता है। यह जिन-जिन दोषों का होता है वे इस प्रकार हैं—

सम्भ्रान्तावस्था में, भयावस्था में, रोगावस्था में द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की आपद् अवस्था में, उत्सुकतापूर्वक शीघ्रता से कार्य करने में, अनजान-पन में, कोई कार्य अपने वश के बाहिर हो जाने से उस समय ज्ञान, दर्शन, एवं चारित्र के मूलगुणरूप पाञ्च महाव्रतों तथा उत्तरगुण दश-विध प्रत्याख्यान पाञ्च समिति आदि में जो अतिचार लगते हैं अथवा अतिचार-विषयक आशंका होती है तो उस अवस्था में यह तीसरा प्रायश्चित्त किया जाता है।

इसी प्रकार जो-जो दुश्चिन्तन किया हो, दुर्भाषा बोली हो, दुष्क्रिया की हो तथा उपयोग लगाने पर भी जो देवसी आदि अतिचार स्मृति में न आरहे हों उन सब का 'तदुभय' प्रायश्चित्त होता है।

व्यक्त अर्थात् गीतार्थ द्वारा अपवाद-मार्ग में आचरण करते, उपयोग रखते हुए भी ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के हेतु जो अकस्मात् विराधना होती है तो उसका 'तदुभय' प्रायश्चित्त होता है।[1]

४. विवेक—

पिण्डोवहि, सेज्जाई गहियं कडजोगिणोवउत्तेण।
पच्छा नायमसुद्धं, सुद्धो विहिणा विगिञ्चन्तो॥
कालाऽद्धाणाइच्छिय-अणुग्गयत्थमिय-गहियमसढो उ।
कारण-गहिय-उव्वरियं भत्ताइ-विगिञ्चियं सुद्धो॥

भोजन, वस्त्र आदि उपकरण एवं शय्यादि, कृतयोगी= कृताभ्यासी द्वारा उपयोगपूर्वक ग्रहण करने के पश्चात् अवगत हो कि यह गृहीत वस्तु सदोष है अशुद्ध है, तो विधिपूर्वक उसका त्याग करना ही, शुद्धि है जो कि चतुर्थ प्रायश्चित्त है।

इसी प्रकार प्रथम प्रहर में ली वस्तु चतुर्थ प्रहर में रह जाने पर; मार्ग चलते पौने-आध-माइल से ऊपर चले जाने से एवं शठता रहित हो कर सूर्योदय से पूर्व एवं सूर्यास्त के पश्चात् वस्तु के ग्रहण कर लेने पर पता चले कि अभी सूर्योदय नहीं हुआ अथवा अस्त हो चुका है तो उस वस्तु को विधिपूर्वक त्याग करने से शुद्धि होती है।

रोगी के निमित्त, आचार्य महाराज के निमित्त, अल्पवयस्क साधक के निमित्त, अभ्यागत प्राघूर्णक=अतिथि के निमित्त, दुर्लभ वस्तु के सहसा ग्रहण कर लेने के कारण यदि आवश्यकता से अधिक वस्तु ग्रहण कर ली गई हो तो वह

१. [illegible]—ठाणांग सूत्र ४।१।२६३॥

इस प्रकार चार भेद होते हैं—(१) लघुमास[1], (२) गुरुमास, (३) लघुचौमासी, (४) गुरुचौमासी[2]। इन चारों के फिर तीन-तीन भेद किए गए हैं—

(१) परवश-पने किसी म्लेच्छ अनार्य राजा आदि तथा देवता के दबाव से सेवन किए गए उपयोग रहित दोषों के प्रायश्चित्त।

(२) स्वयं आतुरता से उपयोग रहित सेवन किए गए दोषों के प्रायश्चित्त।

(३) जान-बूझ कर मोहनीय-कर्म के उदय से मूर्छाभाव-पूर्वक सेवन किए गए दोषों के प्रायश्चित्त।

इन बारह प्रकार के तप-प्रायश्चित्तों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन-तीन भेद कर देने पर कुल छत्तीस भेद बनते हैं।

इन छत्तीस प्रकार के 'तप' प्रायश्चित्तों में कौन-सा तप और कितना तप होता है यह प्राचीन आचार्य देवों की धारणा-नुसार नीचे के कोष्ठक में दिया जाता है—

उत्कृष्ट तप-प्रायश्चित्त छः मास का होता है, अतः छः मास के भी दो भेद गणना में आते हैं जैसे कि लघु-छमासी १६५ उपवास, गुरु-छमासी १८० उपवास।

१. लघु-मास से भी छोटा तप-प्रायश्चित्त 'भिन्नमास' आया है जो कि २५ उपवास का होता है।

२. पंचविहे आयार-पकप्पे पण्णत्ते तंजहा—(१) मासिए उग्घाइए, (२) मासिए अणुग्घाइए, (३) चउमासिए उग्घाइए, (४) चउमा-सिए अणुग्घाइए, (५) आरोवणा॥

—ठाणांग सूत्र ५।२।१४॥

तीन चेन्द्रियाँ	परम्पराने उपयोग रहित			आतुरता से उपयोग सहित			मोहनीय कर्मोदय मूर्छाभाव से		
तीन २ कांद्रियां	जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट	जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट	जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट
लघु मास	४ एकासन	१५ एकासन	२७ एकासन	४ आयम्बिल	१५ आयम्बिल	२७ आयम्बिल	४ उपवास	१५ उपवास	२७ उपवास
गुरु मास	४ नीवी	१५ नीवी	३० नीवी	४ आयम्बिल	१५ आयम्बिल	३० आयम्बिल	४ उपवास	१५ उपवास	३० उपवास
लघु चौमासी	४ आय०	६० नीवी	१०८ उपवास	४ उपवास (चार विगय का त्याग)	४ बेले चार विगय का त्याग	१०८ उपवास चार विगय का त्याग	४ बेले पारने में आयम्बिल	४ तेले पारने में आयम्बिल	१०८ उपवास पारने में आयम्बिल
गुरु चौमासी	४ उपवास	४ बेले	१२० उपवास तथा ४ मास का छेद (१००)	४ बेले तथा ३ दिन का छेद	४ तेले तथा ६ दिन का छेद	१२० उपवास तथा ४ मास का छेद (१०८)	४ तेले पारने में आयम्बिल तथा ४० दिन का छेद	१५ तेले पारने में आयम्बिल तथा ६० दिन का छेद	१२० उपवास पारने में आयम्बिल तथा मूल दीक्षा (१२०)[1]

१. महाव्रतों की आरुढ़ि करा कर १२० दिन का छेद देना।

१. जे भिक्खू 'नत्थि संभोगवत्तिया किरिया' त्ति वयइ, वयंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।

—निशीथ सूत्र ५।६३॥

जब कि सब ही साधु पांच महाव्रत धारी हैं तो सब के साथ सारे सम्भोग रखने में कोई दोष नहीं—ऐसा कहने वाला एवं ऐसा कहने वाले को अच्छा समझने वाला साधक लघुमास के प्रायश्चित्त का अधिकारी है।

२. जे भिक्खू उग्घाइयं अणुग्घाइयं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ, जे भिक्खू अणुग्घाइयं उग्घाइयं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

—निशीथ सूत्र १०।१५,१६॥

---

१. सर्वज्ञ भगवान् तीर्थंकर देव के आसातनाकारी बहुत वचन बोलने से तो दसवां पाराञ्चिक प्रायश्चित्त होता है और इसके स्थान पर अपवाद-रूप में आठवां मूल प्रायश्चित्त भी दे दिया जाता है।

प्रमाद के कारण खोज किये बिना अथवा रागद्वेष के वशी-भूत होकर लघु-प्रायश्चित्ती को गुरु-प्रायश्चित्ती और गुरु प्राय-श्चित्ती को लघु-प्रायश्चित्ती कहने वाले और इसे अच्छा समझने वाले साधक को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

३. जे भिक्खू अपज्जोसवणाए पज्जोसवेइ, पज्जोसवेंतं वा साइज्जइ, जे भिक्खू पज्जोसवणाए न पज्जोसवेइ, न पज्जोसवेंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

—निशीथ सूत्र १०।४२,४३॥

प्रमाद के कारण अथवा आभिनिवेशिक पक्षपात के कारण अपर्युषण-काल में पर्युषण करना और पर्युषण-काल में पर्युषण न करने और इसे अच्छा समझने से गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

४. जे भिक्खू भदन्तं अन्नयरीए अच्चासायणाए अच्चासाएइ, अच्चासाएंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

—निशीथ सूत्र १०।४॥

जो अपने रत्नाधिक पूज्य पुरुषों की कोई आशातना करता है एवं आशातना करने वाले को अच्छा समझता है तो उस साधक को गुरुचौमासी का प्रायश्चित्त आता है।

५. जे भिक्खू दिया-भोयणस्स अवण्णं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ, जे भिक्खू राइ-भोयणस्स वण्णं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

—निशीथ सूत्र ११।७२,७३॥

हँसी-मजाक एवं प्रमाद आदि में दिवा-भोजन को बुरा कहना और रात्रि-भोजन की प्रशंसा करना और ऐसा कहने

हुओं को अच्छा समझना तो उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

६. जे भिक्खू अहाच्छन्दं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ, जे भिक्खू अहाच्छन्दं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं। —निशीथ सूत्र ११।८२,८३

स्नेह में आकर, किसी स्वार्थ के वशीभूत होकर अथवा किसी की लिहाज में आकर अपच्छन्दे की प्रशंसा करनी और उसे वन्दना करनी एवं इसे अच्छा समझना, तो उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

७. जे भिक्खू धम्मस्स अवण्णं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ, जे भिक्खू अधम्मस्स वण्णं वयइ, वयंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं। —निशीथ सूत्र ११।४,१०

किसी लिहाज के मोह में आकर, हँसी-मजाक के भाव से धार्मिक नियमों का उपहास करना तथा अधार्मिक नियमों की प्रशंसा करना तथा उसे अच्छा समझना तो उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

९. जे भिक्खू दुगुञ्छिय-कुलेसु असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ; जे भिक्खू दुगुञ्छिय-कुलेसु वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कम्बलं वा, पायपुञ्छणं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ; जे भिक्खू दुगुञ्छियकुलेसु वसहिं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ।

—निशीथ सूत्र १६।२७,२८,२९॥

दुर्गन्छनीय कुलों से आहार पानी, वस्त्र पात्र, तथा वसति-शय्या लेकर जिन-शासन की अवहेलना में निमित्त बनने वाले एवं इसे अच्छा समझने वाले साधक को लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ॥

१०. जे भिक्खू पडिग्गहं अणलं अथिरं अधुवं अधारणिज्जं धरेइ, धरेंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ।

—निशीथ सूत्र १४।८॥

जो साधक टूटे-फूटे अस्थिर, न रखने योग्य पात्रों को रख कर जिन-शासन की अवहेलना कराता है और इसे अच्छा समझता है तो उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।

११. जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा न गवेसइ, न गवेसंतं वा साइज्जइ; जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा उम्मग्गं वा पडिपहं वा गच्छइ, गच्छंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

—निशीथ सूत्र १०।३६,३७॥

जो साधक, किसी बीमार रोगी का पता लग जाने पर, उसकी सेवा से पराङ्मुख होकर दूर टलता है, जिस से वह जिन-शासन की निन्दा का निमित्त बना एवं दूर टलने को अच्छा जाने, तो उसे गुरुचौमासी का प्रायश्चित्त आता है ।

इत्यादि अनेकों प्रकार के दर्शनाचार-विषयक दोषों के प्रायश्चित्त समझ लेने चाहियें।

अब चारित्राचार के प्रायश्चित्तों का वर्णन किया जाता है।

विषय, कषाय, निद्रा, मद और विकथा रूप प्रमाद के वशीभूत होकर चारित्राचार में जो दोष लगते हैं उनके दो भेद होते हैं, मूलगुण के दोष और उत्तरगुण के दोष। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह विषयक तथा रात्रि-भोजन-त्याग विषयक दोषों को मूलगुणों के दोष कहा जाता है और पाञ्च समिति, तीन गुप्ति, आहार, विहार, एवं दशविध प्रत्याख्यान विषयक दोषों को उत्तरगुणों के दोष कहा जाता है। इन सब दोषों के प्रायश्चित्तों का वर्णन क्रमशः इस प्रकार है—

मूलगुणों के प्रायश्चित्त—

१. जे भिक्खू माउग्गामं मेहुण-वडियाए विन्नवेइ, विन्नवंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

—निशीथ सूत्र ६।१॥

जो साधक किसी स्त्री को मैथुन भाव से कोई वचन कहता है और इस प्रकार के वचन कहने वाले का अनुमोदन [illegible] करता है तो उसे गुरु-चौमासी प्रायश्चित्त [illegible] है।

[illegible] मेहुण-वडियाए [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ [illegible]।

—निशीथ सूत्र ६।१२॥

६. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए खीरं वा, दहिं वा, नवणीयं वा, गुलं वा, खण्डं वा, सक्करं वा, मच्छण्डियं वा अन्नयरं वा पणीयं आहारं आहारेइ, आहारंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं। —निशीथ सूत्र ६/७७

जो साधक अपनी माता के समान किसी स्त्री के साथ मैथुन करने के भाव से दूध, दही, मक्खन, गुड़, खाण्ड, शक्कर, मिश्री एवं अन्य कोई प्रणीत आहार करता है, एवं ऐसा करने वाले के विचारों में रस लेता है तो उसे गुरुचौमासी का प्रायश्चित्त आता है।

७. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुण-पडियाए तेइच्छं आउट्टइ तेइच्छं आउट्टंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं। —निशीथ सूत्र ७/७८।

जो साधक किसी स्त्री के साथ मैथुन के भाव से शरीर की चिकित्सा स्वयं करता है औरों से करवाता है और करते हुओं को अच्छा समझता है तो उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

८. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुण-पडियाए मणुन्नाइं पोग्गलाइं उवकिरइ, उवकिरंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं। —निशीथ सूत्र ७/८१॥

जो साधक मैथुन भाव से सुगन्धित पुद्गलों को, शरीर पर, वस्त्र पर अथवा स्थानक में बिखेरता है या उसे अच्छा समझता है तो उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

९. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुण-पडियाए वत्थाणं वा पायाणं वा [illegible] वा [illegible] वा [illegible], [illegible] वा [illegible], परिहरइ, परिहरंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

—निशीथ सूत्र ७/८५, ८६॥

...आ — अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा, से जं च मुहे, जं च पाणिंसि, जं च
...हे, तं विगिंचमाणे विसोहेमाणे नाइक्कमइ; तं अप्पणा भुंजमाणे
...सिं वा अणुप्पदेमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥

—बृहत्कल्प सूत्र ५।८॥

सूर्योदय के पश्चात् एवं सूर्यास्त से पूर्व आहार करने की प्रतिज्ञा वाला साधक, रोग के कारण अथवा मार्ग चलने व सेवा करने आदि से शरीर से असमर्थ है परन्तु आहार लेते समय सूर्योदय एवं सूर्यास्त विषयक मन में कोई सन्देह नहीं। आहार ले लिया। उसे करने लगे। आहार करते समय मन में निश्चय हुआ कि सूर्योदय नहीं हुआ अथवा सूर्यास्त हो चुका है। उस समय तत्काल यदि वह साधक मुंह में डाला आहार बाहिर निकाल दे, हाथ का आहार छोड़ दे और पात्र का यत्नपूर्वक परिष्ठापन करदे तो उसे रात्रिभोजन का कोई दोष नहीं लगता, उसे कोई प्रायश्चित्त नहीं आता किन्तु मन में सूर्योदय एवं सूर्यास्त विषयक निश्चय होने पर भी यदि वह साधक (दोष तो लग ही गया, आहार करना क्यों छोड़ा जाए, इत्यादि विचारों से) आहार करता जाए, अथवा स्वयं वह आहार न करके किसी दूसरे साधक को देवे तो उसे गुरुचौमासी का प्रायश्चित्त आता है॥

२५. भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए निव्वि-तिगिच्छासमावन्ने असणं वा ४ पडिग्गाहेत्ता आहारमाहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा — अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा, से जं च मुहे, जं च पाणिंसि, जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे विसोहेमाणे नाइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा अणुप्पदेमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥

—बृहत्कल्प सूत्र ५।९॥

पूर्वोक्त प्रतिज्ञा वाला साधक रोग आदि के कारण असमर्थ है और प्रच्छन्नदिशा आदि के कारण सूर्योदयास्त के विषय में सशंक भी है परन्तु किसी अन्य के कहने पर विश्वास करके यदि वह साधक आहार ग्रहण कर लेवे और उसे करने लगे। उस समय दिशा निर्मल हो जाने से उस साधक के मन में यह निश्चय हो जाए कि सूर्योदय नहीं हुआ अथवा सूर्यास्त हो चुका है तो वह साधक तत्काल मुंह का भोजन वाहिर निकाल दे, हाथ का छोड़ दे और पात्र का परठ दे तो उसे रात्रिभोजन का कोई दोष नहीं लगता, किन्तु वह साधक यह समझ कर कि दोष तो लग ही गया अब क्यों न पूर्ण आहार कर लिया जाए अथवा लाई हुई वस्तु क्यों परठी जाए इत्यादि विचार करते हुए आहार करता ही रहे अथवा स्वयं न करके किसी अन्य साधक को आहार करने के लिए दे देवे, तो उसे गुरुचौमासी का प्रायश्चित्त आता है॥

२७. इह खलु निग्गंथस्स वा निग्गंथीए वा राओ वा वियाले वा सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्जा, तं विगिञ्चमाणे विसोहेमाणे नाइक्कमइ; तं उग्गिलित्ता पच्चोगिलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं॥ —बृहत्कल्प सूत्र ५।१०॥

किसी साधक को सूर्यास्त के पश्चात् उग्गाल आजाए तो वह वाहिर थूक दे तो कोई प्रायश्चित्त नहीं आता किन्तु यदि वह अन्दर ही निग्गल जाए तो उसे रात्रिभोजन का दोष लगता है और उसे गुरुचौमासी का प्रायश्चित्त आता है॥

२८. तएणं ते बहवे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म, समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ तस्स ठाणस्स आलोयंति पडिक्कमति जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जंति॥

—दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र १०।५६॥

तब बहुत से साधु साध्वी, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी मुखारविन्द से नियाणों का कुफल सुन कर भयभीत हुए, गवान् को वन्दना नमस्कार की और राजा श्रेणिक और लणा रानी को देख कर जो निदान किया था उसकी आलो-ना निन्दना की और प्रतिक्रमण किया, यावत् उसका यथोचित यश्चित्त तपःकर्म अङ्गीकार किया ॥

इस प्रकार विशिष्ट विषय, कषाय, निद्रा, विकथा और मद प प्रमाद* के कारण मूलगुणविषयक चारित्राचार के दोषों के यश्चित्त समझ लेने चाहियें और पाञ्च प्रकार के विशिष्ट माद के कारण उत्तरगुणसम्बन्धी चारित्राचार के प्रायश्चित्तों ा वर्णन इस प्रकार है—

१. जे भिक्खू णितियं पिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ ासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥ —निशीथ सूत्र २।३३॥

जो साधक प्रमादी बन कर प्रतिदिन एक ही घर से आहार ता है, मंगवाता है और लाने वाले को अच्छा समझता है तो े लघुमास का प्रायश्चित्त आता है ॥

२. जे भिक्खू णितियं वासं वसइ, वसंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे ज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥ —निशीथ सूत्र २।३४॥

जो साधक मास-कल्प व चातुर्मास-कल्प का बिना विशेष-ारण भंग करता हुआ एक ही स्थान रहता है दूसरे को इस ्कार रहने की प्रेरणा करता है और रहते हुए को अच्छा मझता है तो उसे लघुमास का प्रायश्चित्त आता है ॥

* पांच प्रकार के प्रमाद के कारण दोषों का भी [illegible] 'लघुमास' प्रायश्चित्त होता है ॥

और ऐसा करने वाले को अच्छा समझता है तो उसे लघुमास का प्रायश्चित्त आता है॥

७. जे भिक्खू सागारियकुलं अजाणिय, अपुच्छिय, अगवेसिय पुव्वामेव पिंडवाय-पडियाए अणुपविसइ, अणुपविसंतं वा साइज्जइ, से सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं॥ —निशीथ सूत्र २।४८॥

जो साधक शय्यातर का घर बिना जाने बिना पूछे बिना पता किये पहले ही गोचरी को जाता है दूसरों को भेजता है और जाने वाले को अच्छा समझता है तो उसे लघुमास का प्रायश्चित्त आता है।

८. (क) जे भिक्खू गिहंसि वा, गिहमुहंसि वा, गिहदुवारंसि वा, गिहपडि-दुवारंसि वा, गिहेलुयंसि वा (घर की देहली), गिहंगणंसि वा, गिहवच्चंसि वा।

मडग-गिहंसि वा, मडग-छारियंसि वा, मडग-थूभियंसि वा, मडग-आसयंसि वा, मडग-लेणंसि वा मडग-थंडिलंसि वा, मडग-वच्चंसि वा।

इंगाल-दाहंसि वा, खार-दाहंसि वा, गाय-दाहंसि वा, तुस-दाहंसि वा, ऊस-दाहंसि वा।

आयतणंसि वा, पंकंसि वा, पणगंसि वा।

णवियासु वा गोलेहणियासु, णवियासु वा मट्टिया-खाणीसु, परिभुज्ज-माणियासु वा अपरिभुज्जमाणियासु वा।

उंबर-वच्चंसि वा, णग्गोह-वच्चंसि वा, आसत्थ-वच्चंसि वा।

इक्खु-वणंसि वा, सालि-वणंसि वा, कुसुंभ-वणंसि वा, कप्पास-वणंसि वा।

डागा-वच्चंसि वा, सागा-वच्चंसि वा, मूलग-वच्चंसि वा, कोत्थुंभरि-वच्चंसि वा, खार-वच्चंसि वा, जीरिय-वच्चंसि वा, दमणग-वच्चंसि वा, मरुग-वच्चंसि वा।

मडाग वनस्पति का स्थान, मूलक वनस्पति का स्थान, कोत्थुम्भ वनस्पति का स्थान, खारे वाला स्थान, जहाँ जीरी बोई हुई हो, दमनक वनस्पति का स्थान, मरोचन वनस्पति का स्थान।

अशोक वृक्ष का वन, सप्तपर्ण वृक्ष का वन, चंपक वृक्ष का वन, आम्र वन और भी वृक्षों के वन जो पत्र सहित, फूल सहित, फल सहित और बीज सहित हों॥

(८) जे भिक्खू आगन्तारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइ-कुलेसु वा परियावसहेसु वा।

उज्जाणंसि वा उज्जाण-गिहंसि वा, उज्जाण-सालंसि वा; निज्जाणंसि वा, निज्जाण-गिहंसि वा, निज्जाण-सालंसि वा।

अट्टंसि वा, अट्टालयंसि वा, चरियंसि वा, पागारंसि वा, दारंसि वा, गोपुरंसि वा।

दगंसि वा, दग-मग्गंसि वा, दग-पहंसि वा, दग-सालंसि वा, दग-तीरंसि वा, दग-ठाणंसि वा।

सुन्न-गिहंसि वा, सुन्न-सालंसि वा; भिन्न-गिहंसि वा, भिन्न-सालंसि वा; कूडागारंसि वा, कोट्ठागारंसि वा।

तण-गिहंसि वा, तण-सालंसि वा; तुस-गिहंसि वा तुस-सालंसि वा; भुस-गिहंसि वा, भुस-सालंसि वा।

जाण-सालंसि वा, जाण-गिहंसि वा; जुग्ग-सालंसि वा, जुग्ग-गिहंसि वा।

पणिय-सालंसि वा, पणिय-गिहंसि वा; परिया-सालंसि वा, परिया-गिहंसि वा; कुविय-सालंसि वा, कुविय-गिहंसि वा।

गोण-सालंसि वा, गोण-गिहंसि वा; महाकुल-गिहंसि वा, महाकुल-

११. जे भिक्खू परं बीभावेइ, बीभावेंतं वा साइज्जइ; जे भिक्खू प[रं] विम्हावेइ, विम्हावेंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ, चाउम्मासि[यं] परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥

—निशीथ सूत्र ११।६४,६७

जो साधक दूसरों को भय दिखाता है एवं उन्हें विस्मय में डालता है और उसे अच्छा समझता है तो उसे गुरुचौमासी का प्रायश्चित्त आता है ॥

१२. जे भिक्खू गिहि-मत्ते भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥ —निशीथ सूत्र १२।१०॥

जो साधक गृहस्थ के पात्र में आहार करता है और करने वाले को अच्छा समझता है तो उसे लघुचौमासी का प्रायश्चित्त आता है ॥

१३. जे भिक्खू अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा उवहिं वहावेइ, वहावंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं॥

—निशीथ सूत्र १२।४०॥

जो साधक अन्यतीर्थी तथा गृहस्थ को अपना सामान उठवाता है और उठवाने वालों को अच्छा समझता है तो उसे लघुचौमासी का प्रायश्चित्त आता है ॥

१४. जे भिक्खू महानईओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वञ्जियाओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरइ वा संतरइ वा, उत्तरंतं वा संतरंतं वा साइज्जइ, तं जहा—गंगा, जउणा, सरऊ, एरावई, मही; तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥

—निशीथ सूत्र १२।४१॥

जो साधक एक मास के अन्दर दो वार बड़ी नदियों में उतरे एवं उन्हें पार करे और ऐसा करने वाले को अच्छा समझे तो उसे लघुचौमासी का प्रायश्चित्त आता है ॥

१९. जे भिक्खू विभूसा-पडियाए वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा अन्नयरं वा उवगरण-जायं धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥

—निशीथ सूत्र १५।१५३

जो साधक विभूषा के लिये वस्त्र पात्र आदि कोई उप-करण रखता है और रखने वाले साधु को अच्छा समझता है तो उसे लघुचौमासी का प्रायश्चित्त आता है ॥

२०. जे भिक्खू अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पा आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ; संवाहे वा पलिमद्देज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्ज चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥

—निशीथ सूत्र १५।१३,१

जो साधक अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ से अपने पाँव स करवाता है तथा उन से दबवाता है और ऐसा करवाने व अन्य साधकों को अच्छा समझता है तो उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ॥

२१. जे भिक्खू अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि वा अरइयं वा असियं वा भगंदलं वा अन्नयरेणं तिक्खेणं सत्थजाएणं आ देज्ज वा विच्छिंदेज्ज वा, आच्छिंदित्ता विच्छिंदित्ता पूयं वा सोणियं वा नीहरे वा विसोहेज्ज वा, नीहरित्ता विसोहेत्ता सीओदग-वियडेण वा उसिणोद वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा, उच्छोलित्ता पधोइत्ता अन्न आलेवण-जाएणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपित्ता विलिंपित्ता वा, घएण वा, वसाए वा, नवणीएण वा, अब्भंगेज्ज वा ... अब्भंगित्ता मक्खित्ता अन्नयरेणं धूवण-जाएणं धूवेज्ज वा ... करंतं वा साइज्जइ, तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं उग्घाइयं ॥

—निशीथ

हे सुविहित ! यदि जाना चाहे,
घोर भवार्णव के उस पार।
तो तप-संयम-रूप पोत को,
बना शीघ्र अपना आधार॥

दशधर्म-सूत्र

क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य,
शौच और संयम, तप, त्याग।
आकिञ्चन्य, ब्रह्मचारित्व—
इन दशविध भावों का दूजा नाम धर्म है॥

सुर-नर-तिर्यञ्चों के द्वारा किया गया हो,
चाहे कितना ही भीषण उपसर्ग-विकार।
फिर भी नर का कभी क्रोध से तप्त न होना,
कहलाता है उत्तम क्षमा-धर्म का सार॥

उन्नत कुल, तप, रूप, जाति का,
शील, ज्ञान, श्रुत का अभिमान।
जिसे न होता—वही मार्दव—
धर्म-व्रती है श्रमण महान्॥

[illegible]

पर - संतावय - कारण

वयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।

जो वददि भिक्खु तुरियो

तस्स दु धम्मो हवे सच्चं॥

विस्सासणिज्जो मायाव

होइ पुज्जो गुरु व्व लोअस्स।

सयणु व्व सच्चवाई

पुरिसो सव्वस्स होइ पिओ॥

सम - संतोष - जलेणं

जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं।

भोयण-गिद्धि - विहीणो

तस्स सउच्चं हवे विमलं॥

कुटिल विचार, कुटिल कर्मों से,
कुटिल वचन से रहना मुक्त।
अपने दोषों को न छिपाना,
यही आर्जव - ऋजुतायुक्त॥

निज वचनों से कभी किसी को,
जो सन्ताप नहीं पहुंचाता।
निज-पर-हितकर वचन उसी का,
जग में उत्तम सत्य कहाता॥

विश्वसनीय सदा माता - सा,
पूज्य लोक में है गुरुजन - सा।
सत्य - परायण जन होता है,
प्यारा जग में सदा स्वजन - सा॥

समता औ' सन्तोषगुणों के पावन जल से,
तीव्र लोभ के मल-समूह को जो धोता है।
भोजन की लिप्सा से जिसका मन विमुक्त है,
उसके मन में उत्तम शौचधर्म होता है॥

व्रतों, समितियों और कषायों,
दंडों और इन्द्रियों का ही—
क्रमशः धारण, पालन, निग्रह,
त्याग, विजय—उत्तम संयम है ॥

विषयों और कषायों के निग्रह से,
ध्यान और स्वाध्याय-नियम के द्वारा,
जो आत्मा को भावित कर लेता है,
उत्तम तप का धर्म उसी का धन है ॥

कान्त और प्रिय भोग-विषय मिलने पर,
जो कि पराङ्मुख स्वेच्छा से हो जाता,
तथा पूर्ण स्वाधीन भोग तजता है,
उत्तम त्याग धर्म उसका कहलाता ॥

जिसने पुत्र कलत्र-कर्म सब त्यागे,
जिसको प्रिय-अप्रिय का द्वन्द्व नहीं है ।
उस अनगार असंग भिक्षु के मन में,
उत्तम आकिञ्चन्य धर्म रहता है ॥

भोच्चा माणुस्सए भोए अप्पडिरूवे अहाउयं।
पुव्वं विसुद्धसद्धम्मे केवलं बोहि बुज्झिया॥
चउरंगं दुल्लहं मत्ता संजमं पडिवज्जिया।
तवसा धुयकम्मंसे सिद्धे हवइ सासए॥

यौवन-तृण-दल पर विचरण में चंचल,
विषय-वृक्ष से ज्वलित हुआ कामानल,
सदा भस्म करता है त्रिभुवन-कानन।
किन्तु जिसे यह पाता जला नहीं है,
उत्तम ब्रह्मचर्य का व्रती वही है,
उसी धन्य व्रतधारी का है वन्दन ॥

आयु अवधि में मनुज भोगता जाने कितने अनुपम भोग,
पूर्वार्जित सद्धर्म-विभव से करता केवल-बोधि-सुयोग ॥
धर्मचक्र के अन्य चरण में आत्म-नियम का कर सुविचार,
दुर्लभ जान चार अंगों को संयम-व्रत करता स्वीकार।
काट कर्म-कारा को तप से फिर कर लेता सिद्धि-समागम,
यही सिद्धपद शाश्वत होता है-ऐसा कहते जैनागम ॥

———

अप्प-सुत्तं

अप्पा नई वेयरणी
अप्पा मे कूड-सामली।
अप्पा कामदुहा धेणु
अप्पा मे नंदणं वणं॥

अप्पा कत्ता विकत्ता य
दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं य
दुप्पट्ठि सुपट्ठिओ॥

अप्पा चेव दमेयव्वो
अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ
अस्सि लोए परत्थ य॥

आत्म-सूत्र

आत्मा है वैतरणी सरिता,
आत्मा कामधेनु पावन है।
आत्मा कूट-शाल्मली तरु है,
आत्मा मेरा नन्दन-वन है॥

आत्मा कर्ता और विकर्ता,
दुःख और सुख का है जग में।
आत्मा सन्मार्गी का सहचर,
और शत्रु है निन्दित मग में॥

दमन करो अपने आत्मा का,
क्योंकि यही तो कार्य कठिन है।
उभयलोक में होता सुखमय,
आत्मदमी का ही जीवन है॥

अप्पाणमेव जुज्झाहि
किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं
जइत्ता सुहमेहए ॥

पंचिन्दियाणि कोहं
माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं
सव्वमप्पे जिए जियं ॥

दमन करे मेरे आत्मा का,
कोई वध से या बन्धन से।
इससे अच्छा संयम-तप से,
दमी बनूं मैं स्वयं दमन से॥

वीर अजय अरिदल-सहस्र को,
समरभूमि में करता जय है।
वही एक आत्मा को जीते,
तो यह उसकी परम विजय है॥

युद्ध करो अपने आत्मा से,
बाह्य युद्ध से क्या होता है?
आत्मा से आत्मा का जेता,
जग में सुखी सदा होता है॥

पंचेन्द्रियां, क्रोध औ' माया,
लोभ, मान—सब कुछ दुर्जय है।
पर सबसे दुर्जय है आत्मा,
आत्म-विजय ही सर्वविजय है॥

देह तजूं, पर धर्म न जाये,
जिसके आत्मा का निश्चय है।
उसे इन्द्रियां नहीं डिगातीं,
ज्यों आंधी में अडिग मलय है॥

करें हम आत्मा की सतत रक्षा,
हमारी सब समाहित इन्द्रियों से।
अरक्षित आत्मा भव में भटकता,
सुरक्षित मुक्त हो जाता दुखों से॥

———

[illegible]

सव्वं विलवियं गीयं
सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा
सव्वे कामा दुहावहा॥

जहा किंपागफलाणं
परिणामो ण सुंदरो।
एवं भुत्ताण-भोगाणं
परिणामो ण सुंदरो॥

काम-सूत्र

काम शल्य है, काम ज़हर है,
काम भयंकर सर्प-समान ।
विषय-भोग के कामी दुर्गति
पाते हैं—यह निश्चय जान ।।

सब संगीत विलापरूप हैं,
सारे नाट्य विडम्बन हैं ।
सब आभूषण भाररूप हैं,
काम दुःख के भाजन हैं ।।

जैसे है किंपाक फलों का,
रूप देखने भर को सुन्दर ।
वैसे भुक्त सभी भोगों की,
परिणति कभी न होती सुखकर ।।

मग्गो मग्गफलं ति य
    दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो खलु सम्मत्तं
    मग्गफलं होइ णिव्वाणं ।।

दंसणणाण - चरित्ताणि
    मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि ।
साधूहिं इदं भणिदं
    तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ।।

णिच्छय-ववहार-सरूवं,
    जो रयणत्तयं ण जाणइ सो ।
जे कीरइ तं मिच्छा—
    रूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं ।।

क्षण भर सुख, बहुकाल दुःख है,
सुख है न्यून, अधिक दुख जान।
मोक्षमार्ग के शत्रु भयानक,
काम अनर्थों की हैं खान॥

मोक्षमार्ग—रत्नत्रयसूत्र

मार्ग-मार्गफल- दो तत्त्वों का,
जिनशासन में है आख्यान।
सम्यक्ता है मार्ग श्रेष्ठतम,
और मार्गफल है निर्वाण॥

मोक्षमार्ग है सम्यक् दर्शन,
सम्यक् ज्ञान और चारित्र।
बन्ध मोक्ष के लिए नियमतः,
हो निश्चय-व्यवहार पवित्र॥

निश्चय औ' व्यवहाररूप,
रत्नत्रय से जो है अनजान।
'जिन' के मत में उसके सारे,
कार्यों को मिथ्या ही मान॥

धर्म आदि में श्रद्धा है सम्यक् दर्शन,
ज्ञान अंगपूर्वों का सम्यक् ज्ञान है।
तप निष्ठा में वर्तन है सम्यक् चारित्र,
यही रत्न-त्रय सच्चा मोक्ष-विधान है।।

सम्यक् दर्शन बिना न होता ज्ञान है।
बिना ज्ञान कैसा चारित्र्य-विधान है?
बिन चारित्र्य मोक्ष कैसे मिल पायगा?
मोक्ष बिना निर्वाण कहाँ से आयगा??

आत्मा से आत्मा-रत होना
ही सम्यक् दर्शन कहलाता।
आत्म – ज्ञान – संज्ञानरूप है,
आत्म-चरण चारित्र्य कहाता।।

सम्यक्–दर्शन सूत्र

मोक्ष-महातरु का महिमामय मूल है,
सम्यक् दर्शन, रत्नत्रय का सार है।
दो भेदों में इसका रूप विभक्त है,
एक रूप 'निश्चय', दूजा 'व्यवहार' है।।

जह सलिलेण ण लिप्पइ,
कमलिणीपत्तं सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ,
कसाय - विसएहिं सप्पुरिसो ॥

सूई जहा ससुत्ता,
न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि।
जीवो वि तह ससुत्तो,
न नस्सइ गओ वि ससारे ॥

जेण तच्चं विवुज्झेज्ज,
जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज,
तं णाणं जिणसासणे ॥

सुबहुं पि सुयमहीयं,
किं काहिइ चरणविप्पहीणस्स।
अंधस्स जह पलित्ता,
दीव–सय–सहस्स–कोडी वि ॥

जैसे शतदल सहज प्रकृति के कारण,
लिप्त नहीं होता है कभी सलिल से।
वैसे ही सम्यक्त्व – भाव से सज्जन,
लिप्त न होता कभी कषाय–कलिल से॥

सम्यक्-ज्ञान सूत्र

गिरने पर भी कभी न खोती,
ज्यों ससूत्र सूई आंगन में।
सूत्रयुक्त हो जीव अगर तो,
नष्ट नहीं होता जीवन में॥

वही ज्ञान है जिन शासन में,
जिससे होता तत्त्व – विबोध।
जिससे आत्मा का विशोध हो,
जिससे होता चित्त – निरोध॥

सम्यक्-चारित्र्य सूत्र

अन्धे के आगे जलती,
दीपावलि का क्या अर्थ है?
वैसे ही चारित्र्य-शून्य का,
श्रुत-अधीत सब व्यर्थ है॥

सद्धं नगर किच्चा,

तवसंवर मग्गलं ।

खंति निउणपागारं,

तिगुत्तं दुप्पधंसगं ॥

तवनाराय - जुत्तेण,

भित्तूणं कम्मकंचुयं ।

मुणी विगयसंगामो,

भवाश्रो परिमुच्चए ॥

●

रयणत्तय-संजुत्तो,

जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं ।

संसारं तरइ जदो,

रयण-त्तय-दिव्व-णावाए ॥

श्रद्धा को इक नगर बनाओ।
तप-संवर को करो अर्गला,
और क्षमा को दृढ़ प्राकार,
तन-मन-वचन गुप्ति से उसको,
शत्रुगणों से सतत बचाओ।
श्रद्धा को इक नगर बनाओ॥

×

मुनि बनकर तुम कर्म-कवच को,
तप-रूपी बाणों से भेदो।
बंधन काटो—समर जीत कर,
आत्मा को भवमुक्ति दिलाओ।
श्रद्धा को इक नगर बनाओ

●

रत्न-त्रय-सम्पन्न जीव
उत्तम 'तीर्थ' कहा जाता
वह त्रिरत्न की दिव्य तरी,
भव-सागर को तर जाता है॥

अहिंसा सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च ।
पडिवज्जिया पंच महाव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू ॥

सव्वेसिमासमाणं, हिदयं—
गब्भो व सव्वसत्थाणं ।
सव्वेसिं वदगुणाणं,
पिंडो सारो अहिंसा हु ॥

जावन्ति लोए पाणा,
तसा अदुव थावरा ।
ते जाणमजाणं वा,
ण हणे जो वि घायए ॥

पंच-महाव्रत

अहिंसा, सत्य और अस्तेनक,
ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—जान।
जिन प्रतिपादित पाँच महाव्रत,
पालें जीवनधर्म समान ॥

[अहिंसा सू

सभी आश्रमों का है हृदय अहिंसा,
सभी शास्त्रों का है गर्भ अहिंसा।
सभी व्रताचरणों का सार अहिंसा,
सभी गुणों का अन्तिम मर्म अहिंसा ॥

निखिल लोक में
जितने त्रस–स्थावर प्राणी हैं,
जाने अथवा अनजाने में उनकी हिंसा
न तो स्वयं करना, न किसी से भी करवाना,
—यही अहिंसा का पालन है ॥

जो परिग्रही
स्वयं किसी के प्राणों का व्यपरोपण करता,
अथवा किसी अन्य के हाथों करवाता है।
अथवा किसी हनन करने वाले का,
अनुमोदन करता है—वह तो जग में,
अपने लिए वैर का ही संचय करता है।।

त्रस अथवा स्थावर नामों से,
जग में जितने भूतजात हैं।
मन से, वाणी से, शरीर से, किसी तरह भी,
उन पर दंड-प्रयोग निन्द्य है, अकरणीय है।।

अपने प्राण सभी को प्रिय हैं, इसे जानकर,
सकल विश्व के सब जीवों को,
अपने आत्मा के समान सप्राण मानकर।
भय से और वैर से उपरत सत्साधक को,
कभी किसी प्राणी के प्रिय प्राणों,
की हिंसा उचित नहीं है।।

मतिमन्तों का कार्य यही है–
सभी युक्तियों के मंथन से,
सम्यक् ज्ञान जगाकर मन में,
सब जीवों को दुःखों से भयभीत मानकर,
कभी किसी प्राणी को जग में नहीं सतायें ॥

हिंसा से जन्मे दुःखों को,
वैर-विवर्धक महाभयंकर दुःख मानकर,
जो मतिमान् मनस्वी,
सम्यग्-बोध हृदय में जाग्रत करता,
वही विश्व में पापकर्म से अपना परित्राण करता है ॥

भले शत्रु हो या कि मित्र हो,
सब जीवों के प्रति समता का पालन करना,
और सर्वविध हिंसा से,
आजीवन विरत आचरण रखना बहुत कठिन है ॥

किसी जीव की जग में हिंसा कभी न करना,
सकल-ज्ञान का सार यही है।
यही परम विज्ञान,
अहिंसा का पावन सिद्धान्त यही है ॥

अप्पणट्ठा परट्ठा वा,
कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया,
नो वि अन्नं वयावए।।

गामे णयरे वा रण्णे,
वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुंचदि गहणभावं,
तिदियवदं होदि तस्सेव।

मूलमेअमहम्मस्स,
महादोस – समुस्सयं।
तम्हा मेहुण–संसग्गि,
निग्गंथा वज्जयंति णं।।

[सत्य सूत्र]

स्वयं अपने वास्ते या दूसरों के वास्ते,
क्रोध – भय – वश या किसी कारण ।
कभी हिंसक झूठ खुद बोलो न बुलवाओ,
है यही तो सत्य व्रत का आचरण ॥

[अस्तेय-सूत्र]

ग्राम, नगर अथवा अरण्य में,
किसी अभीष्ट वस्तु को लखकर ।
ग्रहण-भाव का परित्याग ही,
तीजा व्रत अस्तेय कहाता ॥

[ब्रह्मचर्य-सूत्र]

है अधर्म का मूल, और है,
महादोष का मलिन निकेतन ।
काम – सुरति का इसीलिए,
निर्ग्रन्थ किया करते हैं वर्जन ॥

जो ममत्व का भाव नहीं पैदा करती हो,
जो असंयमी लोगों द्वारा प्रार्थ्य नहीं है—
मात्र उसी अनिवार्य वस्तु का ग्रहण श्रेय है,
शेष अल्पतम का परिग्रह भी ग्राह्य नहीं है ।।

जीव परिग्रह का आकांक्षी बनकर हिंसाएँ करता है,
झूठ बोलता, चोरी करता, सुरत-भोग में रत रहता है।
अन्धी ममता से ही उसके इंद्रियगण मूच्छित रहते हैं,
इन्हीं पांच पापों की जड़ है, जिसको हम 'परिग्रह' कहते हैं ।।

जैसे सदय-भाव से भौंरा करता फूलों से रसपान,
स्वयं तृप्त भी होता, फूलों को भी नहीं बनाता म्लान ।
वैसे ही श्रेयार्थी साधक नहीं जगत् को देता कष्ट,
अपरिग्रह से जीवन जीता और स्वयं भी होता तुष्ट ।।

जैसे गज अंकुश से ही वश में आता है,
जैसे नगर-सुरक्षा खाई से होती है,
वैसे ही इन्द्रिय-निग्रह के हित,
अपरिग्रह आवश्यक है ।
अनासक्ति इन्द्रिय-गोपन है ।।

[illegible]

संगनिमित्तं मारइ,
भणइ अलीअं करेइ चोरिक्कं।
सेवइ मेहुण-मुच्छं,
अप्परिमाणं कुणइ जीवो॥

जहा कुमस्स पुप्फेसु,
भमरो आवियई रसं।
ण य पुप्फं किलामेइ,
सो य पीणेइ अप्पयं॥

गंथच्चाओ इंदिय—
णिवारणे अंकुसो व हत्थिस्स।
णयरस्स खाइया वि य,
इन्दियगुत्ती असंगत्तं॥

[अपरिग्रह सूत्र]

जो ममत्व का भाव नहीं पैदा करती हो,
जो असंयमी लोगों द्वारा प्रार्थ्य नहीं है—
मात्र उसी अनिवार्य वस्तु का ग्रहण श्रेय है,
शेष अल्पतम का परिग्रह भी ग्राह्य नहीं है ।।

जीव परिग्रह का आकांक्षी बनकर हिंसाएँ करता है,
झूठ बोलता, चोरी करता, सुरत-भोग में रत रहता है।
अन्धी ममता से ही उसके इंद्रियगण मूर्च्छित रहते हैं,
इन्हीं पांच पापों की जड़ है, जिसको हम 'परिग्रह' कहते हैं ।।

जैसे सदय-भाव से भौंरा करता फूलों से रसपान,
स्वयं तृप्त भी होता, फूलों को भी नहीं बनाता म्लान।
वैसे ही श्रेयार्थी साधक नहीं जगत् को देता कष्ट,
अपरिग्रह से जीवन जीता और स्वयं भी होता तुष्ट ।।

जैसे गज अंकुश से ही वश में आता है,
जैसे नगर-सुरक्षा खाई से होती है,
वैसे ही इन्द्रिय-निग्रह के हित,
अपरिग्रह आवश्यक है।
अनासक्ति इन्द्रिय-गोपन है ।।

जरा-मरण-भव-मुक्त जिनों ने,
किया द्विविध पथ का आदेश।
उत्तम श्रावक और श्रमण के,
धर्मों का करके निर्देश॥

श्रावकत्व के लिए मुख्यतः
दान और पूजन प्रधान है।
और श्रमण का धर्म मुख्यतः
शास्त्रों का अध्ययन-ध्यान है॥

जो यतियों से प्रतिदिन सुनता,
सामाचारी परम ध्यान से।
वह सम्यग्-दर्शन-विशुद्ध-जन
'श्रावक' होता जिन-विधान से॥

नारी, द्यूत, मद्य, मृगया, रति,
वाणी और दंड की कटुता,
तथा अर्थ का दूषण मिलकर,
सात व्यसन जग में कहलाते॥

मद्य-पान से विवश हुआ नर,
निन्दित कर्मों को अपनाता।
और उभयलोकों में शापित,
सदा अनन्त दुःख है पाता ।।

मांसाशन है दर्प बढ़ाता,
दर्प मद्य की चाह जगाता,
वही द्यूत का व्यसन लगाता,
और मनुज दोषों का भाजन,
बनकर अपना जन्म गँवाता ।।

जीव-हनन से, मृषा वचन से,
अप्रदत्त, पर-दार गमन से,
अमित परिग्रह की इच्छा से,
विरति-भाव 'अणुव्रत' कहलाता ।।

चोरी से लाई चीजों का करना वर्जन,
कर-चोरी या तस्कर का करना न आचरण।
जाली तुला और मुद्राएँ नहीं बनाना।
राज्य-विरुद्ध कर्म को कभी नहीं अपनाना ।।

ज्ञान-दृष्टि से जो समृद्ध है,
संयम-तप में सदा निरत है।
वही साधु है, वही पूज्य है,
जो उत्तम गुण से मंडित है ।।

जो निस्संग, त्यक्त–गौरव है,
जो निर्मम, निरहंकारी है।
त्रस-स्थावर भूतों के प्रति,
समदर्शी–'श्रमण' नामधारी है ।।

साधु गुणों से कहलाता है, अगुणों से इसके विपरीत।
श्रमण गुणों को धारण करता, तजता है अगुणों की रीत।
जो आत्मा से ही आत्मा का करता है निष्ठित विज्ञान।
रागद्वेष में जो सम रहता, वही पूज्य है श्रमण महान् ।।

जो विविक्त शय्या-आसन के सेवन में रहता है नियमित,
जो स्वल्पाहारी है, जिसके इन्द्रियगण हैं दमित नियंत्रित,
उसके विमल चित्त को कोई राग न दूषित कर पाता है।
जैसे औषधि को न कभी भी रोग पराजित कर पाता है ।।

दिव्य, मानुषी या कि पाशवी,

काम-वासना से बचता है।

किसी रूप में भी जो मानव,

सुरताचरण नहीं करता है।

काम-पंक से जिसके तन-मन-

वचन सदैव बचे रहते हैं।

निष्कलंक जिसका चरित्र है,

उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।।

जल में कमल जन्म लेता, पर

जल से लिप्त नहीं होता है,

विषयों के मल से योगी का,

मन आसक्त नहीं होता है।

जिसके तन-मन-वचन वासनाओं

से अनासक्त रहते हैं,

जो निर्लिप्त रहे शतदल-सा

उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।।

तप की वेदी पर जो तन का
रक्त-मांस अर्पित कर आये,
कठिन साधना के पथ चलकर
जो खुद को कृशकाय बनाये।
ऐसा व्रती, कि जिसके वश में
सारे इन्द्रियगण रहते हैं,
जो निर्वाण-प्राप्त तापस है
उसको हम ब्राह्मण कहते हैं ॥

जो स्थावर-जंगम जीवों का,
ज्ञान हृदय में करता धारण।
जो मन-वचन और काया से,
कभी न करता हिंस्र आचरण।
त्रिविध रूप हिंसा–प्रवृत्ति के,
जिससे सदा दूर रहते हैं,
जो न कभी हिंसा करता है,
उसको हम ब्राह्मण कहते हैं ॥

कभी क्रोध के वश में आकर
वाणी का संयम न तोड़ता,
या कि कभी परिहास-वचन को
भी मिथ्या से नहीं जोड़ता।
जिसके सच्चे वचन, लोभ
या भय से अनभिभूत रहते हैं,
मृषा–वचन जो नहीं बोलता,
उसको हम ब्राह्मण कहते हैं॥

जाति–बन्धु स्वजनों से जिसका,
मन संसर्ग-रहित रहता है,
जो माया-ममता के कारक,
सूत्रों का वर्जन करता है।
भुक्तोज्झित भोगों में जिसके,
भाव असज्जित ही रहते हैं,
जो निर्लिप्त विषय-त्यागी है,
उसको हम ब्राह्मण कहते हैं॥

कभी क्रोध के वश में आकर
वाणी का संयम न तोड़ता,
या कि कभी परिहास-वचन को
भी मिथ्या से नहीं जोड़ता।
जिसके सच्चे वचन, लोभ
या भय से अनभिभूत रहते हैं,
मृषा-वचन जो नहीं बोलता,
उसको हम ब्राह्मण कहते हैं॥

जाति-बन्धु स्वजनों से जिसका,
मन संसर्ग-रहित रहता है,
जो माया-ममता के कारक,
सूत्रों का वर्जन करता है।
भुक्तोज्झित भोगों में जिसके,
भाव असज्जित ही रहते हैं,
जो निर्लिप्त विषय-त्यागी है,
उसको हम ब्राह्मण कहते हैं॥

अलोलुयं मुहाजीविं,
अणगार अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु,
तं वयं बूम माहणं ॥

किं काहदि वणवासो,
कायकलेसो विचित्त उववासो ।
अज्झयणमोणपहुदी,
समदारहियस्स समणस्स ॥

'साँसें हैं, तब तक जीना है',
जिसका यह जीवन-दर्शन है।
जो अनगार, स्वयं में केन्द्रित,
निर्लोलुप है, निष्किञ्चन है।।
जिसके भाव सदा घर-बारी
जन से अनासक्त रहते हैं।
जो भव-त्यागी साधु पुरुष है,
उसको हम 'माहरण' कहते हैं।।

चाहे दे ले कष्ट देह को,
या कर ले वनवास।
मौन धरे, अध्ययन करे,
या रखे विविध उपवास।।
जब तक समता-भाव नहीं है,
इनका क्या है अर्थ ?
समता-रहित श्रमरण का सारा,
नियम - धर्म. है व्यर्थ।।

समाज-धर्म-सूत्र

सुख-शय्या, आवास और आसन, भोजन, जल–
तनिक चाहने पर भी यदि मिल जायँ विपुल,
फिर भी जो करता न अधिक का कभी ग्रहण
वह सन्तोषी है समाज का सदा पूज्यजन ।।

काले चार कषाय – असंयत
क्रोध, लोभ, माया, अभिमान ।
पुनर्जन्म – तरु के सिंचन को
ये हैं कुत्सित नीर समान ।।

अमित परिग्रह है अनंत तृष्णा का कारण,
दोषों का है कोप, नरकगति का है वाहन ।
इसीलिए गृह-स्वर्ण - रजत-पशु-भंडारण से,
सदा बचे श्रावक प्रमाण के अतिक्रमण से ।।

अनगिनती कैलास – सदृश उत्तुंग विशाल,
सोने – चाँदी के बन जाएँ शैल महान ।
फिर भी लोभी का मन उनसे नहीं भरेगा,
लोभी की इच्छा अनन्त है व्योम-समान ।।

जे पावकम्मे हि धणं मणुस्सा,
समाययन्ति अमयं गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिये नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ।।

वित्तेण ताणं ण लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ।।

एगमेगे खलु जीवे,
अईअद्धाए असइं उच्चागोए।
असइं नीयागोए,
नो हीणे नो अइरित्ते-इतिसंखाए
के गोयावाई ? के माणावाई ??

चउहिं ठाणेहिं जीवा,
णेरतियत्ताए कम्मं पकरेंति तं जहा।
महारंभताते महापरिग्गहयाते,
पंचिंदियवहेण कुणिमाहारेण ॥

उदरपूर्ति के लिए सदा निस्संग भाव से,
जैसे पक्षी घास–पात का चुग्गा लाता।
वैसे ही निर्लेप संयमीजन समाज में,
संग्रह के पापों से खुद को सदा बचाता ।।

जीव - हनन से, मृषावचन से,
अप्रदत्त से, रति–मैथुन से।
परिग्रहों से, निशिभोजन से,
जो भी जीव विरत हो जाता—
वही अनास्रव है बन पाता ।।

कितनी बार जीव धरती पर अपने क्रम से,
उच्च-नीच गोत्रों में जन्म लिया करता है—
इसका जिसे ज्ञान है—उसकी शुद्ध दृष्टि में,
कौन हीन है—कौन उच्च है ?
कब वह ऐसे भेदभाव को मन में स्थान दिया करता है ?

चार कारणों से नर नरकलोक में जाते—
महारम्भ से, महा–परिग्रह के साधन से,
पंचेन्द्रिय जीवों के प्राण–व्यपरोपण से,
चौथे, मानुष होकर आमिष के भक्षण से ।।

चाहे त्याग करें लवणादिक, चाहे करलें स्नान,
कुछ भी करें, रहेंगे हरदम वे अनर्थ की खान।
मद्य-मांस-लहसुन-भक्षण की जिनको पड़ी कुटेव,
उनको मोक्ष न मिल पाएगा जग में निश्चयमेव ।।

कभी किसी के प्राणों का अतिपात न करना,
अप्रदत्त चीजों का भी आदान न करना।
कभी कपट से युक्त और मिथ्या न बोलना,
आत्मनिग्रही सत्पुरुषों का यही धर्म है।।

जो देहादि संग से विरहित,
मान-कषायों से है मुक्त।
आत्माराम भावलिंगी वह,
श्रमण साधुता से है युक्त।।

क्षामणा-सूत्र

धर्मनिहित मन से, मैं जग के सब जीवों से,
करता हूं निज अपराधों की क्षमा-याचना।
और क्षमा करता हूं सबके अपराधों को,
शान्तिमयी है शुद्ध हृदय की यही क्षामणा ।।

पूजनीय प्रभु श्रमण-संघ को हाथ जोड़कर,
शीश झुकाकर करता हूं मैं क्षमा-प्रार्थना।
सबसे क्षमा माँगकर, करता क्षमा सभी को,
उभयमयी है शुद्ध हृदय की यही क्षमणा॥

पूजनीय आचार्यों और उपाध्यायों के,
उनके शिष्यों, सहधर्मीजन और
कुलगणों के प्रति, जो मेरे कषाय हैं,
जो कुछ भी मेरे दुष्कृत हैं,
आज उन्हीं की उन सबसे ही
तन से, मन से और वचन से
करता हूं मैं क्षमा-याचना॥

क्षमादान करता हूं मैं सारे जीवों को,
वे सब मेरे अपराधों को क्षमादान दें।
प्राणिमात्र से मैत्री मेरा परम धर्म है,
किसी जीव से वैर नहीं है मेरे मन में॥

जो जो पाप उठे हैं मन में,
मुख ने जो दुर्वचन सुनाये।
जो जो दुष्कृत किये देह ने,
वह सब कुछ मिथ्या हो जाये॥

अगर आपके प्रति मैंने किञ्चित् प्रमाद-वश,
नहीं किया हो उचित आचरण कभी कहीं पर।
तो निःशल्य कषायरहित हों शुद्धभाव से,
क्षमा-याचना करता हूं मैं आज आपसे ॥

चिन्तन-पर्व

तत्त्वार्थ-सूत्र

हन्त ! सुगति-पथ से अनभिज्ञ,
अब तक मूढ-भाव-आक्रान्त ।
भीम भयंकर भवारण्य में,
रहा भटकता होकर भ्रान्त ।।

जरा-मरण-व्याधि-स्वरूप हैं मकर जहाँ पर,
जहाँ निरंतर जन्म-रूप पानी अनन्त है ।
केवल दारुण-दुःख सदा परिणति है जिसकी,
ऐसा यह भवसागर भीषण है, दुरन्त है ।।

भव सागर है, देह नाव है,
और जीव नाविक कहलाते ।
इस दुस्तर सागर को ऋषिवर,
तत्त्व-ज्ञान द्वारा तर जाते ।।

'जीव' देह से भिन्न, अनादि-निधन है,
वह अरूप-उपयोग-लक्षणान्वित है।
है स्वकीय कर्मों का कर्ता-भोक्ता,
वह स्वदेह-परिमाण ऊर्ध्वगतियुत है ।।

भूमि-तेज-जल-वायु-वनस्पतिकायिक,
एकेन्द्रिय–स्थावर हैं जाने जाते ।
द्वि–त्रि–चतुः-पंच–इन्द्रिय शंखादिक,
संसारी जीवों में 'त्रस' कहलाते ।।

हैं सशरीरी 'अर्हत्' केवलज्ञानी,
निज चरणों से जग को तीर्थ बनाते ।
हैं भवमुक्त श्रेष्ठ सुख के अधिगामी,
ज्ञान–शरीरी जीव 'सिद्ध' कहलाते ।।

जीवात्मा के तीन भेद हैं—
'वहिरात्मा' फिर 'अन्तरात्मा' ।
अर्हत् और सिद्ध भेदों से,
होता चरम भेद 'परमात्मा' ।।

बहिरात्मा कहते हैं अक्षगणों को,
और आत्म-संकल्प अन्तरात्मा है।
आत्म-साधना-साध्य, कर्म-पंकों से,
निष्कलंक निर्बन्धित परमात्मा है ॥

जिन-वचनों के रत्नों का संचय करके तुम,
मन से, वचन-काय से त्यागो बहिरात्मा को।
और अन्तरात्मा में सम्यक् आरोहण कर,
शुद्ध-भाव होकर फिर ध्याओ परमात्मा को ॥

राग-द्वेष हैं बीज कर्म के,
मोह कर्म का प्रभव कहाता।
जन्म-मरण का मूल कर्म है,
भव-बंधन है दुःख-प्रदाता ॥

ज्ञान-दर्शनावरण-द्विविध हैं,
वेदनीय हैं, मोहनीय हैं।
आयु, नाम गोत्रान्तराय—ये
आठ कर्म उल्लेखनीय हैं ॥

'आस्रव' है ऐसा द्वार, कि जिससे होकर,
हिंसादिक कर्मों का आस्रव झरता है।
सागर-गत नौका में छिद्रों से होकर,
जैसे विध्वंसक जल-प्रवाह भरता है।।

राग-द्वेष-भावों से हो संपृक्त,
इन्द्रिय-विषयागत द्रव्यों को जब जीव,
जानता-देखता, हो उनमें उपरक्त।
भावों में उसका यह बरबस उपराग,
परिणत करता नूतन कर्मों का बंध।
यह 'बंध'-रूप जैनागम में है उक्त।।

आत्मा के दूषक भोगामिष में डूबा,
हित-निःश्रेयस-मतिहीन, मूढ अज्ञानी।
है कर्म-जाल में ऐसे ही बँध जाता,
जैसे श्लेष्मा में हो मक्खी लिपटानी।।

बन नारी औ' धन का लोभी, तन और वचन से मतवाला,
जपता रहता है राग-द्वेष के दुहरे मनकों की माला।
इस तरह जीव निज कर्मों के मल ही का संचय करता है,
जिस तरह केंचुआ मुख-तन से मिट्टी का संचय करता है।।

मिथ्यापन, अविरति, कषाय औ' योग–
ये चार हेतु हैं आस्रव के विख्यात।
संयम, विराग, दर्शन औ' योगाभाव–
संवर के चार हेतु हैं सम्यग्ज्ञात।।

जिस तरह हज़ारों छिद्र बंद करने पर,
नौका में जल का नहीं प्रसर होता है।
वैसे ही आस्रव–द्वार रोक देने से,
जीवों में पापमुक्त 'संवर' होता है।।

पानी आना रुकने, उलीचने, तपने
से जैसे कोई ताल शुष्क होता है।
उस तरह अनास्रव संयमधन का तप से
जन्मों का संचित कर्म जीर्ण होता है।।
अघ-कर्म जहाँ निर्जीर्ण हुआ करते हैं।
जिन उसे 'निर्जरा' तत्व कहा करते हैं।।

निर्वाण–सूत्र

जन्म–जरा औ' मरण दुःख से
ग्रस्त लोक में कहाँ श्रेय है?
अतः दुःख से त्रस्त जीव के
लिए मोक्ष ही उपादेय है।।

धर्म चक्र से बंध-बेड़ियों का मुमुक्षु भंजन करता है,
कर्म-मलों से मुक्त दशा में आत्मा ऊर्ध्वगमन करता है।
और पहुँच लोकान्तदेश में सर्वज्ञान-द्रष्टा पद पाकर,
वहीं अनन्त अतीन्द्रिय सुख का निराबाध सेवन करता है ॥

जहाँ न सुख है, औ' न दुःख है,
जन्म-मरण का नहीं विधान।
जहां न पीड़ा और न बाधा,
वहीं – वहीं होता निर्वाण ॥

है निर्वाण नाम उस पद का,
जिसे प्राप्त करते महर्षिजन।
जो अबाध, शिव, अनाबाध है,
सिद्ध, क्षेम, लोकाग्र, सनातन ॥

शीतीभूत, ग्रंथियों से परिमोचित,
पूर्ण-शान्त-मन मुनि जो सुख पाता है।
वैसा मुक्ति-भरा सुख कभी जगत् में,
क्या किसी चक्रवर्ती को मिल पाता है ??

दर्शन-पर्व

पुद्गलकृत द्रव्येन्द्रिय-मन को,
सदा 'अक्ष से पर' तू जान।
उनसे निर्वृत ज्ञान कहाता,
है 'परोक्ष' - जैसे अनुमान ॥

जो कि जीव के परनिमित्त हैं,
हैं परोक्ष वे मति-श्रुतज्ञान।
पूर्व-प्राप्त सम्बन्ध-स्मरण से भी,
परोक्ष — जैसे अनुमान ॥

नय-सूत्र

किसी वस्तु के एक अंश का जिसमें ग्रहण किया जाता है,
श्रुत का भेद और ज्ञानी का वह विकल्प 'नय' कहलाता है।
सच पूछो तो नय का ज्ञानी ही ज्ञानी वन पाता है,
जो इसके विपरीत चले वह अज्ञानी रह जाता है ॥

निश्चय औ' व्यवहार-युगल नय,
सभी नयों के मूल जानिये।
द्रव्यार्थिक - पर्यायार्थिक नय,
निश्चय - साधन - हेतु मानिये ॥

एक वस्तु के धर्मों में जो,
करता स्याद् - भेद उपचार।
वह 'व्यवहार' कहा जाता है,
'निश्चय' तद्विपरीत विचार।।

'निश्चय-नय' भूतार्थ ख्यात है,
अभूतार्थ 'व्यवहार' कहाता।
निश्चय - नयाश्रयी जीवात्मा,
सम्यग् - दृष्टि - युक्त बन जाता।।

तीर्थंकरों के वचन द्विविध-'सामान्य-विशेष' कहाते हैं,
उन वचनों के मूल व्याकरण जग में 'नय' कहलाते हैं।
द्रव्यार्थिक-पर्यव नामों से होते नय के उभय प्रकार,
शेष सभी इनके विकल्प हैं, इनके ही होते विस्तार।।

चूँकि सभी नय निज वक्तव्यों में तो सच्चे ही होते हैं,
किन्तु दूसरे नय-कथनों के यदि विरुद्ध हों, तो मिथ्या हैं।
विविध नयों पर इसीलिए तो 'अनेकान्त' के ज्ञानी द्रष्टा,
ये सच्चे हैं, वे झूठे हैं—ऐसा कभी नहीं कहते हैं।

एक वस्तु के धर्मों में जो,
करता स्याद् - भेद उपचार।
वह 'व्यवहार' कहा जाता है,
'निश्चय' तद्विपरीत विचार॥

'निश्चय-नय' भूतार्थ ख्यात है,
अभूतार्थ 'व्यवहार' कहाता।
निश्चय - नयाश्रयी जीवात्मा,
सम्यग् - दृष्टि - युक्त बन जाता॥

ीर्थंकरों के वचन द्विविध-'सामान्य-विशेष' कहाते हैं,
न वचनों के मूल व्याकरण जग में 'नय' कहलाते हैं।
व्यार्थिक-पर्यव नामों से होते नय के उभय प्रकार,
ोप सभी इनके विकल्प हैं, इनके ही होते विस्तार॥

चूँकि सभी नय निज वक्तव्यों में तो सच्चे ही होते हैं,
किन्तु दूसरे नय-कथनों के यदि विरुद्ध हों, तो मिथ्या हैं।
विविध नयों पर इसीलिए तो 'अनेकान्त' के ज्ञानी द्रष्टा,
ये सच्चे हैं, वे झूठे हैं—ऐसा कभी नहीं कहते हैं॥

पढमतिया दव्वत्थी,
पज्जयगाही य इयर जे भणिया।
ते चदु अत्थपहाणा,
सद्द-पहाणा हु तिण्णि णया॥

जम्हा ण णएण विणा,
होइ णरस्स सियवाय-पडिवत्ती।
तम्हा सो बोहव्वो,
एयंतं हन्तुकामेण॥

अणाभोग-धरणामो सहगुणो,
गवंतो य सत्थ-पडिणरो ।
अंध व्व गमालपडे तो,
मिच्छादिट्ठिणो वीसु ॥

स्याद्वाद-सूत्र

जो कि नियम को करे निषिद्ध,
और निपातन से हो सिद्ध।
उसी शब्द को कहते 'स्यात्',
जो सापेक्ष करे हर बात ॥

स्याद्वाद के सात भंग ह – सप्रमाण नय-दुर्नय,
स्यात्-शब्द–सापेक्ष भंग को हम 'प्रमाण' कहते हैं।
नय से जो सापेक्ष भंग हैं – वे 'नय' कहलाते हैं,
दोनों से निरपेक्ष भंग हैं – वे 'दुर्नय' रहते हैं ॥

'स्यात्' शब्द से युक्त 'अस्ति', फिर 'नास्ति',
और फिर 'अस्ति – नास्ति' है,
'अवक्तव्य', फिर 'अस्ति,' 'नास्ति', फिर
'अस्ति-नास्ति' से युक्त वही पद।
सप्त रूप में स्याद्वाद की
यह प्रमाण - भंगी होती है ॥

अंधे जैसे हाथी के विभिन्न अंगों को,
मोघ-दृष्टिवश हाथी मान लिया करते हैं।
वैसे ही अज्ञानी अनेकान्त विषयों के
अंशज्ञान को पूरा ज्ञान कहा करते हैं ॥

भिन्न अवयवों का समुदय हाथी होता है–
ऐसा सम्यग्ज्ञान दृष्टिमन्तों को होता।
वैसे ही नय - समुदय से वहुधर्म वस्तु के
पर्यायों का पूर्ण ज्ञान सन्तों को होता॥

पिता-पुत्र-पोता-पति-भ्राता के सम्वन्धों का आधार–
एक समय में एक पुरुष कैसे वन जाता–करो विचार?
एक पुरुष ही भिन्न प्रसंगों से अनेक वन जाता है,
पिता एक का, क्या सारे रिश्तों का पिता कहाता है?

जो सामान्य - विशेष नाम के दो धर्मों से युक्त,
द्रव्यमात्र में होने वाला है अविरोधी ज्ञान।
वही जगत् में सम्यक्ता का साधक वन सकता है,
जो इसके विपरीत रहे - वह है वाधक अज्ञान॥

स्याद्वाद नृप के समान है, सारे नय उसके दरवारी,
राजा के वश में विरोध तज, रहते हैं सम्यग् व्यवहारी।
स्याद्वाद तो उदासीन है, सारे नय सापेक्षाचारी,
स्याद्वाद के वश में आकर वन जाते सम्यग्-व्यवहारी॥

नाना जीव, कर्म हैं नाना,
नाना-विधा लब्धियाँ उनकी।
इसीलिए निज-पर समयों से,
वचन - विवाद सदा वर्जित है।।

शंकारहित सुप्रज्ञ भिक्षु भी सूत्रार्थों में,
शंकित रहकर स्याद्वाद-मय वचन उचारे।
धर्म – समुत्थित साधुजनों में समतापूर्वक,
प्रतिपद सत्य और अनुभय भाषा व्यवहारे।।

निक्षेप-सूत्र

नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव में कभी कार्यवश,
कर देना पदार्थ का युक्तिपूर्ण संस्थापन।
चार-भेदमय वह 'निक्षेप' कहा जाता है,
वह उपाय है जिससे होता अर्थ–विबोधन।।

समापन–सूत्र

त्रिशला-तनय, अनुत्तरदर्शी और अनुत्तरज्ञानी,
दिव्य अनुत्तर-ज्ञान-दृष्टिधर, अर्हत्, प्रभु, विज्ञानी।
ज्ञातपुत्र श्री महावीर ने यह उपदेश दिया था,
और पवित्र विशालानगरी को कृतकृत्य किया था।।

जिण-वयण-मोसहमिणं,
विसयसुह–विरेयणं अमिदभयं।
जर-मरण-वाहि-वरणं,
सखयकरणं व्वदुक्खाणं ॥

जं इच्छसि अप्पणतो,
जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या,
एत्तियगं जिण - सासणं ॥

जिण - वयणे अणुरत्ता,
जिणवयणं जे करेंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा,
ते होंति परित्तसंसारी ॥

ससमय-परसमयविऊ,
गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो।
गुण-सय-कलिओ जुत्तो,
पवयणसारं परिकहेउं ॥

विषय-सुखों का परम विरेचन,
जरा-मरण-जनि-व्याधि-हरण है।
सब दुःखों का क्षयकारी यह,
अमृतौषध - सम जिनशासन है ।।

जो तुम अपने लिए चाहते,
चाहो वही दूसरों के हित।
इसके परे कभी मत जाओ,
यह है सार-रूप में जिनमत ।।

जो जिन-वचनों के अनुरागी,
तथा भक्तिमय हैं अनुसारी।
वे निर्मल निष्क्लेश जीव ही,
बनते हैं परीत संसारी ।।

जो गम्भीर, दीप्तिमय, शिव है,
सौम्य, स्व-पर-समयों का ज्ञाता।
युक्त, गुणी है वही सूत्र-
प्रवचन का अधिकारी कहलाता ।।

जो मिथ्यादर्शन–समूहमय,
तत्त्वरूप है, अमृतसार है।
मुक्तिकाम निष्कलुप हृदय-पट,
में जलवत् जिसका प्रसार है।
जो आगम पद से प्रसिद्ध है,
रत्नत्रय का सूत्रधार है।
उसका हो कल्याण सदा,
भगवत्स्वरूप जो जिनोद्गार है ॥

जिसमें लीन जीव तर जाते,
इस असीम संसार-सिन्धु को।
सब जीवों का शरणरूप वह,
जिन-शासन जग में नन्दित हो ॥

पा लिया है आज पहली वार,
जिनवचन, जो है सुधा-द्रवमय।
सुगति-पथ पर चल पड़ा हूँ मैं,
अब नहीं मुझको मरण का भय ॥

जैनं जयतु शासनम्।
जैन-शासन की विजय हो ॥

वर्धमान ! तुम 'महावीर' थे ।

धर्मायुध से पूर्ण सुसज्जित,
तुम भव-रण के समर-धीर थे ।
वर्धमान !
तुम 'महावीर' थे ।

काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह-मात्सर्य सरीखे
तुमने अन्तःशत्रु मिटाये,
तुमने बाह्य वैरियों को भी
निपुण अहिंसा के महास्त्र से
किया पराजित ।
धर्म-विजय का शंखनाद कर
चक्र-प्रवर्तन किया विश्व में श्रमण-धर्म का ।
वर्धमान तुम महावीर थे ।

—o—